



“व्यक्तित्व विकास में धर्म का महत्व” प्रकार्यवादी विवेचना

डॉ. सुषमा नयाल

असि. प्रोफेसर, समाजशास्त्र विभाग , एस.एम.जे.एन.(पी.जी.)कॉलेज, हरिद्वार ,
उत्तराखण्ड.

सारांश :-

मानव जीवन में सुखद, शान्तिपूरक, आनन्दित एवं मनुष्यता की अवस्था को सर्वोच्च स्थिति में पहुँचाने के तत्व का नाम धर्म है। सदाचरिता, सच्चरित्रता, दया करुणा, कर्तव्यपरायणता, पुरुषार्थी बनने की प्रेरणा, जियो एवं जीने दो जैसे परोपकारी मूल्य, सामाजिक आदर्शों के सन्देश धर्म के उद्देश्य ही हैं, धर्म का अर्थ व्यक्ति का समाज व्यवस्था के अनुकूल धारण की गयी प्रकृति, गुण, स्वभाव, दर्शन, सोच, कर्म आदि हैं। सत्य को समझना धर्म की मौलिक विशेषता है, धर्म कर्तव्य करने का चरम साध्य है, मानव जीवन सन्तुलित, नियंत्रित रहे मानव व्यक्तित्व पथभ्रष्ट होने से बचे, मानव द्वारा मानवता एवं मनुष्यता सिद्ध हो, यही धर्म का लक्ष्य है, धर्म का अभाव व्यक्तित्व को गौण कर ह्रास करता है एवं व्यक्तित्व की सम्भावनायें नाशवान होती हैं, एक व्यक्ति के व्यक्तित्व द्वारा धर्म के माध्यम से समाज को व्यवस्थित करने का जो योग दिया जा सकता है यह सम्भावना धर्म के रहते ही पूर्ण की जा सकती है। धर्म एवं व्यक्तित्व आपस में जुड़कर ही स्वस्थ एवं व्यवस्थित समाज की नींव डालते हैं, इस व्यवस्था से मानवता की सम्भावना बढ़ती है, अन्ततः मानवता के साथ जीवन यापन ही समाज का मुख्य उद्देश्य है।

प्रस्तावना :-

समाज लोगों के उस वृहत समूह का नाम है जहाँ कि विभिन्नता व समानता अनिवार्य रूप से चलती है परन्तु विभिन्नताओं से समाज का व्यवस्थित संचालन बाधित नहीं हो इस उद्देश्य हेतु धर्म के द्वारा विभिन्न आयामों एवं विचारों के रूप में कठिन-सामान्य नियमों व कर्तव्यों को व्यक्ति तक सामाजिकरण के तरीकों से व्यक्ति तक पहुँचाया जाता है व्यक्ति इन गुणों को गृहण/धारण कर व्यक्तित्व को परिष्कृत करता हुआ समाज के अनुकूलन में योग देता है, अतः किसी भी व्यक्ति के व्यक्तित्व को धर्मानुसार चलकर समृद्धियों एवं मानव होने की उच्च सम्भावनाओं का अनुभव हो सकता है, विज्ञान की दृष्टि तर्क पर आधारित है एवं तर्क इन अहसासों की दूसरी दृष्टि से देख सकता है, जो व्यक्ति सदाचार एवं समाज व्यवस्था के योगदान सम्बन्धी कर्तव्यों को धारण करता है, उसका व्यक्तित्व सामाजिक दृष्टि से उच्च माना जाता है, व्यक्तित्व व्यक्ति की मानवीय होने की पुष्टि है एवं मानवीय मूल्यों का व्यक्तित्व में समाहित होना कोई सामान्य घटना नहीं है, धर्म के आयाम से यह एक अवसर है। धर्म के अनुरूप व्यक्तित्व सदैव ही शारीरिक एवं मानसिक सम्भावनाओं को युगपुरुषों द्वारा स्थापित मूल्यों के निकट पहुँचाता है। धर्म अवस्था है, शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक, आत्मीय प्रयासों को अवसर देने का, क्योंकि अपने व्यक्तित्व विकास हेतु समाज, राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक व्यवस्था के अनुरूप आचरण करना ही तो धर्म है।

धर्म परायणता ही व्यक्ति के आन्तरिक पक्षों में चेतना, संवेदनशीलता, मनुष्यता की स्थापना करता है एवं तब ही व्यक्तित्व विकास व निर्माण की असाधारण घटना घटती है। धर्म का उद्देश्य ही व्यक्ति के व्यक्तित्व/आचरण को परिष्कृत, निर्मित करना है। धर्म की आलौकिक, संरचना सामाजिक आदर्शों, सामाजिक मूल्यों, प्राकृतिक संवेदना, न्यायिक तटस्थ पक्षों, मर्यादित सदाचारी व्यवहार, लोक सेवा त्याग-समर्पण, आदि सामाजिक व्यवस्था के उत्तरदायित्वों पर टिकी है, जो भी व्यक्तित्व इन



सभी पक्षों को समझता है, आत्मसात करते हैं, उन्हें ही विकसित व्यक्तित्व या मानवीय माना जाता है। अतः उनका व्यक्तित्व विकास की ओर निर्मितता की पुष्टि है।

• धर्म का सैद्धान्तिक परिप्रेक्ष्य (Religion Theoretical Perspective)

प्रकार्यात्मक परिप्रेक्ष्य (Functional Perspective) :-

प्रकार्यात्मक परिप्रेक्ष्य किसी भी इकाई, संस्था या तत्व को विश्लेषण या अध्ययन करने का वह सामाजिक तरीका है, जिसमें उस इकाई की व्यवस्था इसकी विशेषता या प्रकार्यों के मध्यनजर रखकर विवेचना की जाती है। यहाँ पर धर्म की व्याख्या व्यक्तित्व के निर्माण के रूप में की जा रही है जिससे यह विवेचना होती है कि धर्म की सामाजिक, वैयक्तिक व मनोवैज्ञानिक आवश्यकता है। प्रकार्यात्मक व्याख्या के अन्तर्गत यह स्पष्ट होता है कि धर्म किस प्रकार सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक क्षेत्रों में व्यक्ति की आवश्यकता है एवं व्यक्ति को स्वैच्छिक अथवा दबाव बनाकर समाज व्यवस्था में व्यक्तित्व निर्माण व विस्तार कराता है। प्रकार्यात्मक परिप्रेक्ष्य से धर्म के उन प्रकार्यों का अध्ययन किया जा रहा है जो सामाजिक एकात्मकता मूल्यों, आचारों, व्यवहार, आचरणों व मूल्यों से सम्बन्धित है, प्रकार्यात्मक धर्म एवं व्यक्तित्व को संगठित व सकारात्मक अन्तर्सम्बन्धता से प्रस्तुत करता है। प्रकार्यात्मक परिप्रेक्ष्य धर्म को अकार्य एवं विघटनकारी रूप में विश्लेषित नहीं करता है। प्रकार्यात्मक परिप्रेक्ष्य समाज के लिए धर्म के सकारात्मक योगदान पर जोर देता है।¹

अध्ययन के उद्देश्य :-

- धर्म के सामाजिक आधार ज्ञात करना।
- व्यक्तित्व एवं धर्म की अन्तर्सम्बन्धता जानना।
- व्यक्तित्व निर्माण में धर्म की भूमिका के प्रमुख आधारों को समझना।
- व्यक्ति को धर्मानुकूल व्यक्तित्व बनाने की आवश्यकता को जानना।

धर्म की व्याख्या :-

धर्म को अलौकिकता व विश्वास से जोड़कर देखा जाता है, यह विश्वास एवं ज्ञान साक्ष्यों पर आधारित हो सकता है एवं नहीं भी, धर्म संस्कृत के ‘धृ’ धातु से निर्मित है एवं धर्म का अर्थ है ‘धारण करना’ अर्थात् कर्तव्यों एवं उत्तरदायित्वों को अलौकिकता, ईश्वर पर विश्वास करते हुए धारण करना धर्म है। स्वयं को सत्य, उचित आचरण से, कर्तव्य पूर्ति हेतु गुण, सदाचार को धारण करना धर्म है। ‘धर्म क्रिया का एक तरीका है, साथ ही विश्वासों की एक व्यवस्था भी, और एक समाजशास्त्रीय प्रघटना के साथ-साथ एक वैयक्तिक अनुभव भी है।’²

धर्म वह है जिसे संसार धारण करने में समर्थ हो अर्थात् संसार की व्यवस्था बनाये रखने में जो धारण किया जाये वह धर्म है, उस व्यवस्था हेतु कर्तव्यों को अपने व्यक्तित्व में समाहित करना, अपना धर्म है एवं धर्म पतन का तात्पर्य है ‘सभी उच्चतम् सभ्यताओं की मृत्यु, धर्म विहीन सामाजिक संसार अनिश्चिताओं, उत्साह, आनन्द, दिव्य दृष्टि से रहित सामाजिक जगत होगा।’³ धर्म का खण्डन मनुष्यता का खण्डन है, धर्म व्यक्ति को सकारात्मकता की ओर रूपान्तरित करने की शाखा है, ‘धारणाद धर्म इति—आहु’⁴ अर्थात् मनुष्य जो धारण करे वही उसका धर्म है, इसका सम्बन्ध व्यक्ति के कर्तव्य से है। धर्म आस्थाओं एवं परम्पराओं का एकीकृत तंत्र है, जो पवित्र वस्तुओं से सम्बन्धित होता है, यह उन लोगों को जो इन आस्थाओं एवं परम्पराओं में विश्वास रखते हैं, को एक नैतिक समुदाय के रूप में एक सूत्र में बांधता है।⁵ अतः धर्म मानव को नैतिक जीवन—शैली को अपनाने हेतु प्रेरित करता है। धर्म मात्र आध्यात्मिकता पर विश्वास ही नहीं वरन् धर्म सर्वत्र अपने से परे एक शक्ति पर निर्भर अभिव्यक्ति है जिसे हम आध्यात्मिक अथवा नैतिक शक्ति के रूप में सम्बोधित करते हैं⁶ इस नैतिक, आध्यात्मिकता को व्यक्ति जब स्वयं में अनुभव करता है तो वह आनन्दित होने के साथ कर्तव्यों को व्यवस्थितता से धारण कर अपने आचरण का विस्तार भी करता है।

अतः धर्म का समाजशास्त्रीय सार स्पष्ट है कि धार्मिक अनुसूची के ज्ञानात्मक, भावनात्मक तथा क्रियात्मक मानसिक अवस्थाओं को समाज द्वारा महत्व देकर धर्म को समाविष्ट किया गया है, धर्म आचरण एवं कर्तव्यों को धारण करने की व्यवस्था व संस्था का नाम है।

व्यक्तित्व की अवधारणा :-

मनुष्य कभी भी व्यक्ति के रूप में जन्म नहीं लेता है। जन्म के समय वह एक शिशु रूप है जो कि समय के साथ व्यक्ति बनता है, एक बच्चे का अलग-अलग स्तरों में सीखने की प्रक्रिया पूरी होती है जो कि समाजीकरण कहलाता है, समाजीकरण में एक व्यक्ति अपने समाज, सम्बन्धों, परिवारजनों, मित्रों एवं अन्य संस्थाओं से संस्कृति सीखता है, सामाजिक, मानसिक प्रभावों व अनुभवों से व्यक्ति का व्यक्तित्व निर्मित होता है। संस्कृति को सीख कर ही एक व्यक्ति के भीतरी व्यक्तित्व का निर्माण होता है। यह व्यवहार व्यक्ति की आदतों, मनोवृत्तियों, अभिवृत्तियों, जीवन के आदर्शों एवं विशेषताओं की अभिव्यक्ति है।⁷

अंग्रेजी शब्द Personality लैटीन भाषा के Persona से विकसित हुआ है जिसका अर्थ नकाब से है। Persona ग्रीक भाषा के Prosopon से लिया है जिसका अर्थ आकृति व चेहरे का भाव है, सामान्यतः व्यक्तित्व का अर्थ बाह्य संरचना से है, परन्तु व्यक्तित्व के अर्थ को विद्वान आन्तरिक रूप से जोड़ते हैं। पार्क बर्गस (Park Burgers) –व्यक्तित्व उन लक्षणों का योग एवं संगठन है जो समूह में व्यक्ति की भूमिका का निर्धारण करता है। ‘व्यक्तित्व एक व्यक्ति की आदतों, मनोवृत्तियों, लक्षणों एवं विचारों का ऐसा प्रतिमानित योग है जो बाहरी तौर पर तो विशिष्ट एवं सामान्य कार्यों व स्थितियों के रूप में तथा आन्तरिक रूप से उसकी आत्मचेतना, अहं की धारणा, विचारों, मूल्यों तथा उद्देश्यों से संगठित होता है।’⁸

अतः व्यक्तित्व का सम्बन्ध मनोविज्ञान के निकट है, इसलिए इस अवधारणा को मनोवैज्ञानिक दृष्टि से परिभाषित करना उचित है। हालांकि व्यक्तित्व का साधारण अर्थ व्यक्ति के बाह्य, शारीरिक संरचना, रंग, रूप, कद, पहनावा, भाव भंगिनाओं की उत्कृष्टता से लगाया जाता है जो कि समाजशास्त्रीय-मनोवैज्ञानिक धारणा के अनुकूल नहीं है। समाज मनोवैज्ञानिक रूप से ‘व्यक्तित्व का सामान्य अर्थ व्यक्ति के शारीरिक, मानसिक, सामाजिक लक्षणों का कुल योग है, जिसके कारण प्रत्येक व्यक्ति एक-दूसरे के समान एवं एक-दूसरे से भिन्न प्रतीत होता है।’⁹

व्यक्तित्व अध्ययन के दो प्रमुख उपागम हैं, मनोवैज्ञानिक एवं समाजशास्त्रीय, यद्यपि तीसरा उपागम प्राणीशास्त्रीय भी है, परन्तु जो व्यक्तित्व के जैविक, शारीरिक तत्वों की समाविष्टि से व्यक्ति को परिभाषित करे वह पर्याप्त नहीं माना गया है। मनोवैज्ञानिक उपागम में व्यक्ति की विशेष तरीके व शैली को व्यक्तित्व कहा गया है। यह पद्धति मानसिक प्रवृत्तियों, भावनाओं, संवेगों के संगठन से निर्मित होती है। समाजशास्त्रीय उपागम व्यक्तित्व को व्यक्ति के विचारों, अभिवृत्तियों एवं मूल्यों का योग मानता है। व्यक्तित्व सामूहिक जीवन में योगदान देने के पश्चात् अर्जित किया जाता है। व्यक्तित्व सामूहिक जीवन में योगदान देने के पश्चात् अर्जित किया जाता है, व्यक्ति के विचार, अभिवृत्तियों व सामाजिक मूल्य ही व्यक्ति के व्यक्तित्व को समाविष्ट करते हैं, किसी व्यक्ति का व्यक्तित्व बाहरी समाज के बारे में एक वयस्क की आन्तरिक/भीतरी संरचना व सोच को प्रदर्शित करता है, इसी से सामाजिक समूह, संस्था, समुदायों में आचार, आचरण, विश्वास, सामाजिक सम्बन्धों (आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक) के मानकों की भी स्थापना होती है।

धर्म एवं व्यक्तित्व की अन्तर्सम्बन्धता :-

धर्म का प्रकार्य व्यक्ति को स्वःव्यक्तित्व का बोध कराना भी है, धर्म समाजीकरण कराने वाली संस्थाओं में शशक्त संस्था है, व्यक्ति में स्वयं के व्यक्तित्व का बोध कराता है, इस कारण दैनिक जीवन में आने वाली संस्थाओं के प्रति व्यक्ति से पहले से ही तैयार होता है। धर्म के आचार, व्यवहार किसी भी व्यक्ति व्यक्तित्व का ज्ञान अवबोधन कराता है। इससे जुड़कर सकारात्मक अनुभव होता है, भय व दबाव के कारण भी व्यक्ति धर्म को स्वीकारता है, इस रूप में धर्म एक महत्वपूर्ण संस्था है, व्यक्तित्व निर्माण एवं जीवन नियंत्रण में व्यक्तित्व का अवबोधन दबाव के साथ एवं स्वैच्छिक स्वीकृत मानकों के अनुसार भी होता है।

धर्म द्वारा व्यक्तित्व निर्माण की प्रकार्यात्मक व्याख्या :-

धर्म का समाज से सार्वभौमिक जुड़ाव है, विश्वभर में कोई समाज बिना धर्म के प्रभाव से संगठित होने में असमर्थ है, क्योंकि धर्म एक विशेष संस्कृति को विकसित करता है तथा संस्कृति को सीखना, समाजीकरण करना ही व्यक्तित्व विकास का आधार भी है। धर्म से व्यक्तित्व की विशेषताओं में वृद्धि होती है, साथ ही सामाजिक इकाईयों का विस्तार भी होता है। **मानव व्यक्तित्व की नियमितता एवं नियंत्रणता** धर्म से प्रेरित है, धार्मिक प्रभाव एवं आचार द्वारा सामाजिक संस्थाओं जैसे— परिवार, कानून, अर्थव्यवस्था, शैक्षणिक व्यवस्था को भी निर्देशित करते हैं। महाभारत में धर्म को माता-पिता, भ्राता, स्वामी, सब कुछ माना गया है। **‘धर्मः पिता च माता च धर्मो नाथः सुदृढ तथा। धर्मो भ्राता सखा चैव धर्मः स्वामी परं तय।’**¹⁰ व्यक्ति धर्म के दबाव या स्वैच्छिक प्रभाव से इहलोक-परलोक के श्रेय से प्रभावित रहता है। वस्तुतः सभी धर्मों के आचार मनुष्य के व्यवहार को नियमित एवं नियंत्रित करते हैं। यह नियंत्रण ही **‘क्या होना चाहिए क्या नहीं होना चाहिए’** का अन्तर व्यक्ति को बताते हैं। समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण स्पष्ट करता है कि कोई विचार, प्रथा, सोच, सामाजिक संस्थाओं द्वारा व्यक्ति के व्यक्तित्व में उतारी जाती है, ताकि व्यक्तित्व समाज के अनुरूप व्यवस्थित हो सके एवं सामाजिक संस्थाओं की बातों का धर्म से जोड़कर ही व्यक्ति को समझायी जाती है, ताकि व्यक्ति का व्यक्तित्व, व्यवहार नियंत्रित व नियमित हो पाये।

‘धर्म विघटित व्यक्तित्व को जोड़ने में सहायक’ होता है, सामान्य एवं सामाजिक स्वीकृत मान्य आचरणों का उल्लंघन विघटित व विपथगामी आचरण कहलाता है एवं विघटित व्यवहार समाज को नकारात्मक रूप से प्रभावित करता है, इसलिए धार्मिक मूल में कभी भी विघटित व्यक्तित्व मान्य नहीं रहा है। विश्व का हर धर्म विपथगामी व्यवहार व व्यक्तित्व का विरोध करता है। धर्म का आचरण क्या सही है, क्या गलत है, पर आधारित होकर आदर्शात्मक होते हैं। इस कारण व्यक्तियों का व्यक्तित्व विघटित आचरण अस्वीकार करने हेतु प्रेरित होता है, क्योंकि ऐसा नहीं करने पर धर्म उल्लंघन माना जाता है। यही आधार सामाजिक सुव्यवस्था को उत्पन्न करते हैं। परिणामतः सामाजिक संस्थायें, समितियाँ, विभिन्न संगठन, भिन्न-भिन्न अधिकारों से कार्यो एवं नीतियों को सम्पादित करते हैं। ऐसी व्यवस्था का औचित्य ही तो धर्म का सामाजिक व व्यक्तित्ववादी पक्ष है। इन्हीं सामाजिक, धार्मिक पक्षों के सम्पादन में कमी होने को ही भागवद गीता में धर्म की हानि कहा गया है, **‘यदा-यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत, अभ्युत्थानं धर्मस्य तदात्मानं सृज्याहम’**¹¹ जब धर्म की हानि व अधर्म में वृद्धि होती है तो तब मैं अपने रूप को रचता हूँ, अर्थात् साकार व्यक्ति द्वारा अपने व्यक्तित्व व आचरण, व्यवहार द्वारा सामाजिक अव्यवस्था को व्यवस्थित किया जायेगा।

व्यक्ति के समाजीकरण में धर्म का महत्व है, समाजीकरण सीखने की प्रक्रिया का नाम है एवं सीखने की इस प्रक्रिया में व्यक्ति संस्कृति को आत्मसात करता है, संस्कृति को सीखता है, संस्कृति का तात्पर्य सीखे व्यवहार से है जिसमें व्यक्ति सामाजिक मूल्य, आदत, लोकरीति, प्रथा, भाषा, विश्वास, स्वीकृत व्यवहार, मानदण्ड आदि होते हैं। संस्कृति इन पदों का निर्धारण है एवं यह सभी पक्ष धर्म से ओतप्रोत होते हैं। भिन्न धर्मों की संस्कृति व सांस्कृतिक पक्ष भिन्न हैं, इन पक्षों को सीखना समाजीकरण है, संस्कृति के पक्षों को सीखने से ही एक व्यक्ति व्यक्तित्व को धारण करता है जिससे व्यक्तित्व विस्तारित होता है। सामाजिक व्यवस्थाओं के प्रतिकूल आचार सीखने से व्यक्तित्व विघटन का रूप प्रस्तुत होता है। संस्कृति के अनुरूप ही व्यक्तित्व को अनुसरण करना चाहिए, यह सभी मूल्य धार्मिक हैं। जब ऐसा नहीं किया जाता है तो व्यक्ति का यह कृत्य स्वतः ही आर्थिक कृत्य माना जाता है।

सामाजिक स्थिरता धर्म से तय होती है, क्योंकि धर्म का आधार तर्क नहीं विश्वास होता है तथा धर्म परम्परागत मूल्यों (उच्च कोटि की शिक्षायें) व आदर्श नियमों को लोगों के माध्यम से स्वीकृति प्रदान कर इन्हें संरक्षित कर देता है। फलतः सामाजिक बदलाव की दिशा धीमी हो जाती है, क्योंकि माना गया है कि आदर्श मूल्यों में परिवर्तन मनुष्यता हेतु हानिकारक हो सकता है। यहाँ पर उन आदर्श मूल्यों की चर्चा हो रही है, जोकि व्यक्ति अपने हित हेतु नहीं वरन् समाज हित में निर्मित हुए हैं। जैसे धर्म द्वारा प्रकृति के संरक्षण को मूल्य बनाया गया है, संरक्षण के तहत प्राकृतिक संसाधनों में परम्परागत आदर्शों की स्वीकृति से मानवीय आधुनिक विकास धीमा होता है। व्यक्ति विकास को जितना साकार कर रहा है, उतना ही मूल्य व आदर्शों को परिवर्तित कर रहा है, जिससे प्राकृतिक आपदा की सम्भावना बढ़ी है एवं पारिस्थितिकी तंत्र प्रभावित हो रहा है एवं यही स्वः हित आधुनिक व्यक्तित्व में आत्मसात हो रहा है, इससे यह सिद्ध होता है कि धर्म के प्रकार्य पूर्व से ही

सामाजिक स्थिरता हेतु तय किये जाते रहे हैं ताकि व्यक्तित्व का निर्माण समाज हित की प्रगति हेतु समाजीकृत हो।

सामाजिक समायोजन के प्रकार्य द्वारा व्यक्तित्व विकसित होता है, धर्म की सहायता से व्यक्ति अपने व्यक्तित्व को पर्यावरण व प्रकृति के साथ समायोजन करता है। समनर एवं केलर के अनुसार—धर्म द्वारा भी अन्य संस्थाओं की भांति ही व्यक्ति को पर्यावरण व प्रकृति के साथ समायोजन व समंजन कराया जाता है तथा व्यक्ति के अपने तीनों पर्यावरण प्राकृतिक, सामाजिक एवं अतिप्राकृतिक तीनों में ही विभेद है। व्यक्ति इन तीनों ही पर्यावरण के साथ सामंजन हेतु धर्म द्वारा ही बाध्य होता है एवं समंजनानुसार व्यक्तित्व निर्मित करता है। **धर्म द्वारा व्यक्तित्व का निर्माण व्यवस्था बनाने हेतु निर्मित होता है,** धर्म सामाजिक व्यवस्था के अनुरूप व्यक्तित्व निर्मित करने में सक्षम एवं सफल होता है। हिन्दू वांगमय/शास्त्रों में जगत का आधार ही धर्म को माना गया है। ‘धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा’¹² अतः धर्म सारे जगत की प्रतिष्ठा (आधार) है, सामाजिक व्यवहारों के नियम में धर्म की प्राथमिक भूमिका व महत्वता है, वह व्यवहार ही व्यक्तित्व का निर्माण करता है। **व्यक्तित्व के राजनैतिक पहलुओं में धर्म का महत्व है,** व्यक्ति के व्यक्तित्व में राजनैतिक अंशों का प्रभाव धर्म के कारण ही अन्तर्निहित होता है। प्राचीन समय से ही राजनैतिक जीवन को संचालित एवं नियंत्रित करने में धर्म का योगदान रहा है। राजा द्वारा राजनीति करने में धर्म को महत्व दिया जाता था, इसी कारण राजा का व्यक्तित्व विराट माना गया है, विराट का अर्थ है जब न राजा न प्रजा थी, एवं लोग एक साथ मिलकर रहते थे, राजा का व्यक्तित्व राजव्यवस्था के माध्यम से धर्म प्रचारित करना था, धर्म की मौजूदगी राजनीति में सम्मिलित रहती थी। कूटनीति व राजनीति धर्मधीन होना आवश्यक माना गया है। इसी से राजनीति भी धर्म हननता से बच सकती है, इससे जनकल्याण में वृद्धि होती है तथा लोगों का व्यक्तित्व भी व्यवस्थित रहता है।

व्यक्तित्व की आर्थिक पृष्ठभूमि में धर्म का महत्व प्रारम्भिक सामाजिक अवस्थाओं से रहा है। आर्थिक गतिविधियाँ एवं कार्य व्यक्ति के मानवीय व सामाजिक सम्बन्धों की अभिव्यक्ति है। आर्थिक गतियों में उत्पादन, उपभोग, विनिमय, वितरण की आचारात्मक प्रणालियों से व्यक्तित्व पुष्ट होने की सम्भावना बढ़ जाती है। उत्पादन विधियों एवं प्रणालियों में अन्तर होना यह बताता है कि व्यक्ति की रुचि उपभोग के प्रति भिन्न-भिन्न है, हालांकि आर्थिक संस्था प्रत्येक समाज की अनिवार्यता है, परन्तु व्यक्ति की उपभोग रुचियों, इच्छाओं की पृष्ठभूमि व पैटर्न को तैयार करने में धार्मिक संस्था का योग रहता है। भारतीय धार्मिक पृष्ठभूमि व्यक्ति के व्यक्तित्व को पाश्चात्य समाज की तुलना में भिन्न आर्थिक गतियों को विकसित करता है, जिसका कारण धार्मिक संस्कृतियों की भिन्नता हो सकती है, क्योंकि भारतीय समाज का आर्थिक विकास पुरुषार्थ, वर्ण से चरितार्थ रहा है। पुरुषार्थ में अर्थ को धर्म पूर्ति का प्रधान तत्व भी माना गया है। वर्णाश्रम में व्यक्ति को पुरुषार्थ पूर्ति के निर्देश थे, साथ ही भौतिक व आध्यात्मिक उत्कर्ष की भी दिशाएँ तय थी। महाभारत में भी अर्थ को उच्चतम धर्म मानकर इसकी महत्वता को स्थान दिया है। साथ ही धर्म, अर्थ, काम (त्रिवर्ग) के प्रधान आधार के रूप में अर्थ को प्रमुख माना है।¹³ नारद¹⁴, याज्ञवल्क्य¹⁵, कौटिल्य¹⁶, आदि चिंतकों ने अर्थशास्त्र की प्रतिष्ठा धर्मशास्त्र के व्यवहार में माना है एवं धन संग्रह के धर्म के अनुसार तय की है। अधर्म के अनुसार अर्थ को ग्रहण करना व्यक्तित्व का वर्जना है।

समाजशास्त्रीय व्याख्या :-

समाजशास्त्री मानते हैं कि धर्म आर्थिक क्रियाओं को प्रभावित करता है, दुर्खिम—‘सभी सामाजिक संस्था धर्म से ही प्रादुर्भूत होती हैं एवं धर्म द्वारा नियंत्रित होती हैं।’¹⁷ मैक्स वेबर विश्व के 06 धर्मों का अध्ययन कर प्रोटेस्टेंट धर्म के सम्बन्ध में तथ्य प्रस्तुत करते हैं। प्रोटेस्टेंट धर्म के लोगों का व्यक्तित्व पूंजीवाद व तर्क के नजदीक है एवं ‘आधुनिक पूंजीवाद का विकास प्रोटेस्टेंट धर्म में सर्वाधिक है, क्योंकि प्रोटेस्टेंट धर्म की मान्यताएँ इस धर्म के व्यक्तियों को धन अर्जित करने हेतु प्रोत्साहित करते हैं एवं सम्पत्ति के प्रति व्यक्ति का व्यक्तित्व अत्यन्त ही तर्कशील होता है।’¹⁸ अतः समाज की अर्थव्यवस्था, समाज के धार्मिक आचार, शिक्षाओं, धर्म स्वरूप द्वारा निर्देशित, प्रभावित होती है तथा इनसे व्यक्तित्व प्रभावित होता है।

उपसंहार :-

धर्म का तात्पर्य समाज व्यवस्था में योगदान देने हेतु कर्तव्यों को धारण करना है तथा व्यक्तित्व व्यक्ति के आन्तरिक संरचना यथा— विचार अभिवृत्ति, मनोवृत्ति, सोच का योग है तथा यह एक—दूसरे के पूरक हैं। धर्म अपने आप में एक व्यवस्था है और यह व्यापक समाज की अन्य उप—व्यवस्थाओं के साथ धर्म की निरन्तर अन्तःक्रिया चलती रहती हैं। इन अन्तःक्रियाओं में व्यक्ति केन्द्रक है एवं इन सभी अवस्थाओं से व्यक्ति की सामाजिक व्यवस्था, अस्तित्व तथा वैधता निर्मित होती है, क्योंकि धर्म किसी भी सामाजिक व्यवस्था को परिवर्तित कर सकता है, धर्म की शिक्षाओं से व्यक्ति का व्यक्तित्व निर्मित होता है तथा व्यक्तित्व के माध्यम से ही समाज की दिशा निर्धारित होती है। सामान्यतः धर्म द्वारा सामाजिक एवं सांस्कृतिक नियमों का प्रतिपादन होता है। इन नियमाचारों एवं समाज निर्माणक तत्वों के अतिरिक्त धार्मिक—पद्धतियों में निषेधात्मक पद्धतियाँ भी होती हैं, जिसका कारण है निषेधों द्वारा व्यक्ति को संयमित करना, नियंत्रित करना। इस प्रकार का नियंत्रण ही व्यक्ति के विखण्डित होने वाले व्यक्तित्व को संरचनात्मक करने में योग देता है। अतः वह व्यक्तित्व व्यक्ति को सामाजिक व्यवस्था में योगदान करने हेतु सदैव ही प्रेरित करता है। धर्म व्यक्तित्व को विकसित करने की शिक्षायें हैं तथा व्यक्तित्व व्यक्ति की मानवता व सकारात्मक पक्षों का परिपालन है।

सन्दर्भ ग्रन्थ—सूची

1. आहूजा, राम. आहूजा, मुकेश. (2008) समाजशास्त्र : विवेचना एवं परिप्रेक्ष्य, रावत प्रकाशन, जयपुर, पृ.नं. 297.
2. बी. मोलिनोवस्की. (1948) मैजिक, साइन्स एण्ड रिलिजन एण्ड अदर एसेज, ग्लेन्को, पृ.नं. 24.
3. एलवूड, ए. चार्ल्स. (1921) दि रिकन्स्ट्रक्शन ऑफ रिलिजन, न्यूयार्क, पृ.सं. 1—11.
4. महाभारत, शान्ति पर्व.
5. दुखिर्म, ईमाइल. (1915) इलिमेन्ट्री फार्मस ऑफ रिलिजियस लाईफ, द मैकमिलन क न्यूयार्क, पृ.न. 427.
6. ब्राउन, ए. रेडक्लिफ. (1945) रिलिजन एण्ड सोसायटी, जर्नल ऑफ दि रियल एन्थ्रोपोलॉजिकल इंस्टीट्यूट, Vol. LXXV.
7. सिंह, जे.पी., (2010) समाजशास्त्र: धारणायें एवं सिद्धान्त, द्वितीय संस्करण, संस्कृति अध्याय, पी.एच.आई, प्रकाशन, पृ.नं. 300.
8. Young, Kimball. (1949) सोशियल साइकोलॉजी, पृ.नं. 58.
9. सिंह, जे.पी., (2010) Ibid, पृ.नं. 299.
10. महाभारत, आश्वमेधिकपर्व, पृ.नं. 92.
11. यदा—यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत, अभ्युत्थानं धर्मस्य तदात्मानं सृज्याहम, श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय— 4 : 7—8.
12. महानारायणोपनिषद, 79.7.
13. महानारायण उपनिषद, पृ.नं. 63.
14. नारदस्मृति, उद्योगपर्व, 72. 23—24.
15. याज्ञवल्क्य स्मृति, 2.21.
16. अर्थशास्त्र (कौटिल्य), 1.70. 10—11.
17. Durkhiem, Emile. ¼1915½ The Elementry Forms of Religions life. The Macmillan Co., New York, P.No. 417.
18. Waber, Max. ¼1920½ The Study of Social and Economic Organization, German P.No. 150-154.